नये उपन्यासों में भूमंडलीकरण व बाज़ारवाद

रवीन्द्रनाथ मिश्र

21वीं सदी का समय और समाज आधुनिक टेक्नॉलॉजी से लैस है। जीवन का कोई ऐसा कोना नहीं है, जहाँ तकनीकी विकास की किरण न पहुँची हो। उपभोक्तावाद और सूचना क्रान्ति की अन्धी दौड़ में हमारे पारस्परिक प्रेम एवं सद्भाव की गठरी ढीली पड़ती जा रही है। वैश्वीकरण और आर्थिक उदारीकरण के चमकीले नारों के पीछे हमारी मानवीय संवेदना को ग्रहण लगता जा रहा है। बाज़ारवाद हमारे चारों ओर मायानगरी की तरह व्याप्त है। वर्तमान परिदृश्य की आलोचना करके भी हम उसमें जीने के लिए अभिशप्त हैं। आज भूमंडलीकरण की बात करने पर हमें हमारा 'वसुधैव कुटुम्बकम' याद आता है, जो कि सहकारिता, समानता और नैतिकता के मूल्यों पर आधारित था। जिसमें पारस्परिक प्रेम और सद्भाव तथा भोग की अपेक्षा त्याग पर बल था। परहित की मंगल-कामना से परिपूर्ण मानवतावादी दृष्टि का समावेश था। 'सर्वे भवन्तु सुखिनः एवं 'हम अन्य न और कुटुम्बी' तथा 'औरों को हँसते देखो मनु, हँसो और सुख पाओ' की भावना से अनुप्राणित था।

आज जिस भूमंडलीकरण का डंका बज रहा है। वह उक्त 'वसुधैव कुटुम्बकम' की संकल्पना से एकदम अलग है। यह तो बाज़ारवाद को बढ़ावा देकर इंसानों के बीच दूरी पैदा कर रहा है। भूमंडलीय समाज में लगातार चयन करने के लिए हम बाध्य हैं। मोटे तौर पर भूमंडलीकरण के कतिपय प्रभाव हमें दिखाई दे रहे हैं। इस समय हमारी पुरानी परम्पराएँ, आस्थाएँ और मान्यताएँ धूमिल हो रही हैं और उसके स्थान पर एक नये प्रकार की भूमंडलीय संस्कृति का जन्म हो रहा है। दूरदर्शन पर आस्थाओं के नाम पर एक नये तरह का बाज़ारवाद पनप रहा है। नामवर सिंह ने एक साक्षात्कार के दौरान कहा था कि दूरदर्शन पर 'बाबावाद' का उदय हो रहा है। भूमंडलीकरण के कारण वर्ग, राष्ट्रीयता और जातीयता पर तरह-तरह के विवाद खड़े हो रहे हैं। सत्ताओं के परिवर्तन में भी हम इसे देख सकते हैं। लीबिया, मोरक्को, यमन, जॉर्डन और बहरीन आदि इसके उदाहरण हैं। एजाज़ अहमद का मन्तव्य है, "भूमंडलीकरण की मूल विचारधारा समानता नहीं है— हो नहीं सकती है; यह असमानता है। किसी साझा मकसद या साझा स्वप्न के लिए कोई सहयोग नहीं; मगर भिन्न-भिन्न लक्ष्यों के लिए, अनन्त दुःस्वप्नों में फूटती व्यक्तिगत या सामूहिक प्रतियोगिता।"

भूमंडलीकरण और बाज़ारवाद के कारण हमारे व्यवहार, सोचने, समझने और देखने का नज़रिया भले ही बदल गया हो लेकिन यह माना जा रहा है कि इसके बगैर प्रगति सम्भव ही नहीं है। एक समय था जब मध्यवर्ग आर्थिक समूह से ज़्यादा सांस्कृतिक समूह था और अपनी ऐतिहासिकता के साथ जीता था। पश्चिम के लोगों को पूर्व की आध्यात्मिकता आकर्षित करती थी। 'ए.बी.सी.डी.' उपन्यास में पंजाब का रहने वाला हरदयाल और उसकी पत्नी कनाडा में रहते हुए भी अपनी भारतीय संस्कृति से जुड़े थे, लेकिन उसकी बेटी शीनी कनाडा की संस्कृति में घुलमिल जाती है। माँ अपनी बेटी के विचारों से तंग आकर कहती है, "तुम्हारे जैसी सन्तान भगवान किसी को न दे।" माँ ने बहुत दुखी होकर कहा था, "जो अपने माँ-बाप की दुश्मन हो जाए। मैं तो अपने को कोसती रहती हूँ कि ऋषियों मुनियों की पवित्र धरती छोड़कर यहाँ क्यों चली आयी। पिछले जन्म में ज़रूर कोई पाप किया होगा, जिसका दंड भोग रही हूँ।" इसी तरह जया जादवानी के 'कुछ न कुछ छूट जाता है' उपन्यास की नायिका ऋतु भी मध्यवर्गीय बनते-बिगड़ते मूल्यों से जूझती है। शिवमूर्ति के 'तर्पण' उपन्यास में दो पीढ़ियों के वैचारिक संघर्ष को रेखांकित किया गया।

शम्भुनाथ का अभिमत है, "वास्तविकता यह है कि दुनिया में इस समय एक ही संस्कृति की धूम है, जो वैश्वीकरण के पीछे खड़ी है। यह मुनाफ़े, ख़ुदगर्ज़ी और निर्ममता की संस्कृति है। ...अन्ततः बड़ी पूँजी के चमकीले आतंक के आगे कुछ भी ठहर न सका। पूँजीवाद इतना अराजक कभी नहीं था, उसमें इतनी ताकत पहले कभी नहीं थी। यह अराजकता और ताकत का खेल समाज में ऊपर से नीचे तक देखा जा सकता है।" यह सही है कि सुखमय जीवन जीने के लिए बाज़ार ज़रूरी है लेकिन यदि हमारा घर-परिवार और समाज ही बाज़ार बन जाएगा तो जीवन जीना मुश्किल हो जाएगा। जैसा कि आज हो रहा है। पूँजी और नैतिकता का रिश्ता कम ही बन पाता है। जहाँ पूँजी होगी वहाँ मानवीय वृत्ति न होकर व्यावसायिक वृत्ति होगी। आज बाज़ार हमारे घर में प्रवेश कर गया है। अब तो स्थिति यहाँ तक पहुँच गयी है कि पारिवारिक रिश्तों में ही बाज़ारवाद की गन्ध आने लगी है। खेल की दुनिया को पवित्र भाव से देखा जाता था। आज तो स्थिति यह कि क्रिकेट के खिलाड़ी बाज़ार में खड़े हैं बिकने के लिए, आइए और बोली लगाइए।

रणेन्द्र के 'ग्लोबल गाँव के देवता' उपन्यास का मूल कथ्य झारखंड के एक आदिवासी असुर समुदाय का संघर्ष अपनी रोजी-रोटी-बेटी को लेकर है। व्यक्ति और समाज के जीवन में देशी-विदेशी का फ़र्क मिट गया है। भारत में ग़रीबी और भुखमरी वहीं पर ज़्यादा है, जहाँ अपार खनिज सम्पदा मौजूद है। रुमझुम असुर प्रधानमन्त्री से जोहार लगता है, "बड़ी हिम्मत बाँधकर यह खत लिख रहा हूँ। मैं आपकी ईमानदारी और सादगी का कायल रहा हूँ... हमारे पूर्वजों ने जंगलों की रक्षा करने की ठानी तो उन्हें

राक्षस कहा गया। लेकिन बीसवीं सदी की हार हमारी असुर जाति की अपने पूरे इतिहास में सबसे बड़ी हार थी। ...टाटा जैसी कम्पनियों ने हमारा नाश किया। ...मजबूरन पाट देवता की छाती पर हल चलाकर हमने खेती शुरू की। किन्तु बॉक्साइट के वैध-अवैध खदान, विशालकाय अजगर की तरह हमारी ज़मीन को निगलता बढ़ता आ रहा है। हमारी बेटियाँ और हमारी भूमि हमारे हाथों से निकलती जा रही है।'' औद्योगिकीकरण की प्रक्रिया में भूमि अधिग्रहण की घटनाएँ आये दिन सुनने को मिलती हैं।

आदिवासी असुर समाज के एक विद्यालय में लेखक अध्यापन करते हुए वहाँ की ज़िन्दगी में इतना रच बस जाता है कि उसे अपना गाँव अच्छा नहीं लगता। ''वहाँ जमुनियाँ रंग की एतवारी भी नहीं थी और न था उसका बिलौती (टमाटर) और लहसुन की छौंकवाला कोयनार साग का स्वाद। वहाँ मिंज मैडम, कच्छप मैडम और सुषमा सिंह खेरवार भी तो नहीं थी और न था हॉस्टल से आनेवाली बच्चियों का समवेत कलरव संगीत, जिसकी लोरी-धुन से ही मुझे नींद आती थी और जिसकी प्रभाती-सी उठान से नींद टूटती थी। वहाँ बुधनी की 'पेशल' चाय नहीं थी और न था धुस्का-घुघनी का चटक स्वाद। वहाँ लालचन भौजी की मुस्कराहट और देवर वाला गीत भी नहीं था।'' 'अहा! ग्राम्य जीवन' की संकल्पना भूमंडलीकरण के कारण कोसों दूर होती जा रही है। सरसों, मटर, बथुआ और चने के साग की जगह फास्टफूड आ गया है। अब तो हालत यह है कि पिज्जा पहले पहुँच जाता है और एम्बुलंस उसके बाद।

हमारे समय के पूँजीवाद की विशेषता यह है कि,उसने अपने चेहरे पर कुछ लुभावने मुखौटे चढ़ा रखे हैं। ये मुखौटे भूमंडलीकरण और विश्वग्राम के विकास और जनतन्त्र की रक्षा के मुखौटे हैं, जिनकी आड़ में बाज़ारवाद पनप रहा है। बाज़ारवाद में पूँजी की सत्ता सर्वोपरि होती है। अब जहाँ पूँजी होगी वहाँ भला नैतिकता कैसे हो सकती है? वह तो शोषण पर आधारित होती है। विगत 15-20 वर्षों से भूमंडलीकरण के चलते बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ जिस प्रकार से भारत में अपना पाँव पसार रही हैं, उसके कारण एक ऐसी चमक-दमक वाली रंग-बिरंगी दुनिया का निर्माण हो रहा है, जिसे देखकर हमारी आँखें चकाचौंध हैं। यह दो दशकों पहले नहीं था। हम ज्यों-ज्यों उपभोग और आर्थिक प्रगति के बड़े संसार से जुड़ रहे हैं, त्यों-त्यों अपनी भारतीय सांस्कृतिक अस्मिता से दूर होते जा रहे हैं। अब तो हमारे रहन-सहन, खान-पान, वेशभूषा आदि पर भूमंडलीकरण का प्रभाव है।

प्रभा खेतान लिखती हैं, ''भूमंडलीकरण वह प्रक्रिया है जो वित्त-पूँजी के निवेश, उत्पादन और बाज़ार द्वारा राष्ट्रीय सीमा में ही वर्चस्वी नहीं, बल्कि राष्ट्रीय सीमा से परे भूमंडलीकरण आधार पर निरन्तर अपना प्रसार करना चाहती है। इसका निर्णय-क्षेत्र सारी दुनिया है।'' इंटरनेट के द्वारा लाखों का टर्नओवर मिनटों में हो रहा है। बाज़ारवार इतना हावी हो गया है कि प्रलोभनों की मायानगरी के चलते हमें मज़बूरन सामान ख़रीदना ही पड़ रहा है। संचार क्रान्ति के कारण आज पूरा विश्व हमारी मुट्ठी में सिमट गया है। प्रदीप सौरभ के उपन्यास 'मुन्नी मोबाइल' की बिन्दु यादव पहले मुन्नी में और फिर मुन्नी मोबाइल में तब्दील हो जाती है। मालिक पत्रकार आनन्द भारती ने मुन्नी को दीवाली के अवसर पर मिठाई, कपड़े और रुपये देने की कोशिश की लेकिन वह तिरछी नज़रें करके चली गयी और एक महीने तक उसने बात नहीं की। 'आनन्द भारती ने उसकी ओर गहराई से देखा। थोड़ा वक़्त लगाया कि मुन्नी कुछ पूछे, पर मुन्नी की जुबान टस से मस नहीं हुई तो आनन्द भारती ने मोबाइल उसके सामने कर दिया। उसके चेहरे पर एक ख़ास तरह की मुस्कान चमक उठी। बोली 'नोकिया का है न'!''

आज मोबाइल की सुविधा से संवाद और बाज़ारवाद दोनों उत्कर्ष पर हैं। मनुष्य को उसके स्वास्थ्य सम्बन्धी नकारात्मक प्रभाव की भी कोई चिन्ता नहीं है। बाबा तुलसी ने पहले ही कह दिया कि 'जड़ चेतन गुन दोष मय, बिश्व कीन्ह करतार' यानी संसार का निर्माण गुण और दोषों से हुआ है।

भूमंडलीकरण के नकारात्मक पक्ष हैं तो वहीं पर उसके कुछ सकारात्मक पक्ष भी हैं। आज भारत की प्रगति और विश्व की महा आर्थिक शक्ति बनने के पीछे भूमंडलीकरण और बाज़ारवाद का ही हाथ है। यदि हमें वैश्विक जगत से कन्धा मिलाकर चलना है तो कुछ तो खोना ही पड़ेगा। अब जब बाज़ारवाद की सरिता बह रही है, तो कुछ कूड़े-कचरे भी ज़रूर आएँगे। संजय खाती लिखते हैं कि 'ऐसा बदलाव क्यों हुआ? इसकी वजह आर्थिक तरक्की, ग्लोबलाइजेशन और टेक्नॉलाजी है। आर्थिक तरक्की ने लोगों को इतनी ताकत दी कि वे सरकार की प्रजा नहीं रह गये। उन्हें एक नयी आज़ादी मिली, जिसने उन्हें मुखर, तेज़ और दबंग बनाया। ग्लोबलाइजेशन ने उनके लिए दुनिया के दरवाज़े खोल दिये। अब वे सीमाओं के ग़ुलाम नहीं रहे। कोई भी हवा लोकल नहीं रही।'

भूमंडलीकरण का प्रभाव है कि ज्ञान के नये-नये क्षितिज विकसित हो रहे हैं और बहुत सारे लोगों ने ज्ञान के एक नये संसार में क़दम रखा है, जोकि ऐसे सम्भव न था। इसके कारण बाज़ारवाद भी ख़ूब फूल-फल रहा है। जिसे मध्यवर्ग ढो रहा है। वैश्वीकरण के विस्तार, सूचना-क्रान्ति और बाज़ारवाद के साथ समाज में न उदारता आयी और न ही आत्मसम्मान की रक्षा करना आसान हुआ। अलका सरावगी के 'शेष कादम्बरी' उपन्यास की कादम्बरी अख़बार-टीवी में काम करती है और एक पत्रकार के साथ मुक्त जीवन जीते हुए भी भूमंडलीकरण की कट्टर विरोधी है। वह जानती है कि उदारवाद और भूमंडलीकरण 'मेरा भारत महान' की कब्रगाह है। वह चाहती है कि लोग 'सोशल वर्क' के बजाय सोशल जस्टिस के लिए लड़ें।

वैभव, बाज़ार और लालसा की दौड़ में मदान्ध हुआ इंसान किस कदर आत्मनिर्वासन की दुनिया में पहुँच जाता है। इस व्यथा कथा को धीरेन्द्र अस्थाना ने अपने 'देशनिकाला' उपन्यास में बखूबी चित्रित किया है। फेज सिक्स में होली, दीवाली, गणेशोत्सव, दही हाँडी, छब्बीस जनवरी, पन्द्रह अगस्त आदि त्यौहारों को आत्मीय भाव से मनाने वाला चार सौ परिवारों का कुनबा उदारीकरण, बाज़ारवाद और ग्लोबलाइजेशन की हवा से ई-मेल, क्रेडिट कार्ड, डेबिट कार्ड, पर्सनल लोन आदि के चक्कर में सुविधाभोगी जीवन जीने के लिए तितर-बितर हो गया। उपन्यास के मुख्य पात्र गौतम और मल्लिका हैं। गौतम सफलता के पीछे ज़िन्दगी की वास्तविकता और स्वाभाविकता को भूल जाने वाले आज के बड़े तबके का प्रतिनिधित्व करता है और मल्लिका उन थोड़े लोगों में से है जो जीवन को जीवन की तरह जीने की हिमायती है। गौतम के साथ लिव इन रिलेशनशिप में रह रही मल्लिका चाहती है कि गौतम सच्चाई को स्वीकार कर लें, लेकिन गौतम कहाँ सुनने वाला था। ''वह थियेटर के

सुपरस्टार थे। पृथ्वी थियेटर में जब उनका नाटक खेला जाता था तो शाम छह और रात नौ दोनों वाले शो लगभग हाउसफुल रहते थे। लेकिन गोवा के फ़िल्म समारोह में उन्हें अपरिचय के जिस विन्ध्याचल से टकराना पड़ा, वह उनके तईं दुखद था। 'यह दुखद स्थिति गौतम के जीवन में एक बड़े बदलाव का कारण बनी। दरअसल गौतम को दुख इस बात का था कि वो पीछे छूटते जा रहे हैं और ग्लोबलाइजेशन की इस बयार में भला पीछे कौन छूटना चाहता है, चाहे जीवन का राग बेसुरी चीख़ में या असहाय क्रन्दन में ही क्यों न बदल जाये।'' बाज़ारवाद और ग्लोबलाइजेशन की ज्वाला में पता नहीं कितने गौतम पतंगे की भाँति बार-बार झुलस रहे हैं फिर भी दूर जाने का नाम नहीं ले रहे हैं।

मधु कांकरिया ने 'सलाम आख़िरी' उपन्यास में देह बाज़ार के यन्त्रीकरण को दर्शाया है। यह उपन्यास वेश्यावृत्ति के जीवन पर आधारित है। जिसे कांकरिया ने विश्व में वेश्या की उपस्थिति के उदाहरण देकर वेश्या समस्या का भूमंडलीकरण कर दिया है। मधु सन्धु ने लिखा है, 'वेश्या हमारी संस्कृति के हर कालखंड में किसी न किसी रूप में जीवित रही है। बस नाम बदलते रहे हैं। देवदासी, सर्वभोग्या, रूपजीवा, नृत्यांगना, नगरवधू, तवायफ़, वारांगना, कालगर्ल, पतुरिया, कसबिन आदि।'

रवीन्द्र कालिया के '17 रानडे रोड' के केन्द्र में समुद्र के किनारे रानडे रोड का 17 नम्बर का बँगला है, जिसकी ख्याति भूत-बँगला के रूप में है। इस बँगले के सन्दर्भ में सम्पूरन की कथा दरअसल 'दिल का राजा, जेब फकीर की' संघर्ष गाथा है। मीडिया जिस प्रकार बाज़ारवाद को बढ़ावा देने के लिए नारी के अंगों का प्रदर्शन कर रहा है, उसी प्रकार कथा साहित्य में भी देह-विमर्श बड़े खुले रूप में आ रहा है। 'उसका अंडरवियर इतना झीना था कि भीतर से सुरमई रंग झलक रहा था।' जया की नग्नता और सुप्रिया के साथ उसकी रोमांस भरी बातें, जिन मिलाकर कोक पीना और एक-दूसरे के साथ आलिंगनबद्ध होकर सो जाना, सुप्रिया का भाई के साथ अभद्र व्यवहार और उसका स्कर्ट-ब्लाउज वाला पहनावा आदि बातें पुरानी और नयी पीढ़ी के बीच संघर्ष पैदा कर रही है। यह सब भूमंडलीकरण और बाज़ारवाद के चलते हो रहा है।

भूमंडलीकरण और बाज़ारवाद के वास्तविक चेहरे का परिचय राजू शर्मा का 'विसर्जन' उपन्यास कराता है। जिसमें एक नये साम्राज्यवाद की स्थापना की गयी है, जिसकी विशेषता है राष्ट्र की सत्ता में बाज़ार की सत्ता की दखल और इसके माध्यम से दुनिया में नये ढंग से उपनिवेशवाद का प्रसार करना। जिसने राज्य, शासन, संचार, अर्थनीति, संस्कृति यहाँ तक कि न्यायिक प्रक्रिया को भी अपने अन्दर समेट लिया है। इसका उदाहरण है, हाल ही में हो रहे मीडिया द्वारा घोटाले और भ्रष्टाचार के खुलासे। लेखक ने इसमें अपने समय, समाज, बाज़ार की संस्कृति आदि को ऐतिहासिक सन्दर्भों के अन्तर्गत टटोलने का यथार्थ प्रयास किया है। इतिहास हमेशा वर्तमान को कुरेदता रहता है। नामवर सिंह ने एक जगह 'सामयिक बोध की संश्लिष्टता' की व्याख्या करते हुए उसे अतीत की जीवन्त स्मृति के साथ वर्तमान की परिवर्तनशीलता के प्रति जागरूकता कहा है।'

'विसर्जन' उपन्यास में नायक अपनी बेटी और उसकी सहेली के साथ रिक्शा चालकों की जीवन स्थितियों की चर्चा करते हुए रिक्शे से सम्बन्धित पूरा ऐतिहासिक ब्योरा प्रस्तुत कर देता है। इस ब्योरे और रिक्शा चालकों की ज़िन्दगी पर बात करते हुए लेखक आज के सन्दर्भ में पूँजीवाद की निर्ममता की बात करता है। इसमें एक प्रमुख पात्र रंगराजन है, जोकि पूँजी और उद्दाम उपभोग की दुनिया का भव्य स्वरूप प्रदर्शित करता है। उपन्यास में रंगराजन का एक जगह कथन है,

''तुम्हारा राज्य और उसके अंग उत्तर आधुनिक समाज का क़ैदखाना हैं। राज्य का स्वरूप और नियमन इस युग की सृजन क्षमता की राह में काँटा है। इसे निकालना अब ज़रूरी हो गया है। समझ लो यह इक्कीसवीं सदी का महाभारत है। इस देश में आज एक लाख सेनानी हैं जो डॉलर मिलियनायर हैं देश की दस फीसदी आय इनकी बदौलत है। कारोबार, उद्यम और सृजन के इंजन यही हैं और मुझे यह कहने में संकोच नहीं कि श्रीकृष्ण की तरह मैं इस सेना को मार्ग दिखा रहा हूँ। और जो तुम सुन रहे हो इस युग की गीता है। फिर गीता का पाठ क्या गुना है?''

रंगराजन के चरित्र को देखते हैं तो प्रेमचन्द का 'उपन्यास का विषय' नामक लेख याद हो जाता है, जिसमें उन्होंने लिखा है, 'औपन्यासिक चरित्र विशिष्ट होने के साथ केवल नकारात्मक नहीं, बल्कि सकारात्मक रूप में विकासशील होना चाहिए।' अजय वर्मा ने 'विसर्जन' की समीक्षा करते हुए लिखा है, 'लेखक ने भूमंडलीकरण और बाज़ार की पूरी संरचना, सत्ता केन्द्र और आर्थिक सैद्धान्तिकी के तिलिस्म की भयावहता और कुरूपता को जिस तन्मयता से रचा है, वही इसके शिल्प को विशिष्ट बनाता है।'

'मृगतृष्णा' मलयालम उपन्यासकार के.एल. मोहन वर्मा के उपन्यास 'शेयर' का हिन्दी रूपान्तरण है। हम सभी जानते हैं कि 'शेयर' और शेयर बाज़ार पूँजीवाद लूट-खसोट का प्रमुख तन्त्र है। प्रस्तुत उपन्यास के केन्द्र में केरल की आयुर्वेद कम्पनी धन्वन्तरि हर्बल प्रोडक्ट्स है। पिता और बड़े भाई की मृत्यु के पश्चात कम्पनी की पूरी ज़िम्मेदारी मिनी पर आ जाती है और उसे कमज़ोर मानकर शेयर बाज़ार के जरिये षड्यन्त्र रचा जाता है। यह धन्धा अब कम्पनियों और व्यापारियों तक ही सीमित नहीं है बल्कि सत्ता, खेलजगत एवं अन्य विभिन्न संस्थाओं में भी प्रवेश कर गया है। पूँजी संग्रह करने के लिए आजकल जिस तरह के हथकंडे अपनाये जा रहे हैं, उससे हम सब अच्छी तरह से वाकिफ़ हैं। भूमंडलीकरण उदारवाद और खुले बाज़ार के नाम पर बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ और धनपति लोग मालामाल होने की ही नहीं सोच रहे हैं बल्कि अपनी आने वाली पीढ़ी को भी मालामाल देखना चाहते हैं।

आज हम जिस बाज़ारवाद की चर्चा कर रहे हैं, इसकी शुरूआत बहुत पहले हो चुकी थी। ईस्ट इंडिया कम्पनी भारतीय किसानों की नील, अफीम, कपास आदि की खेती के द्वारा दुगुना-तिगुना लाभ कमाती थी। अब वही कार्य बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ कर रही हैं। भूमंडलीकरण और मुक्त बाज़ारवाद के चलते भारत विश्व की महाशक्तियों की पंक्ति में खड़ा तो हो गया है, पर उसकी अपनी पूरब की अस्मिता ग़ायब होती जा रही है। कामायनी में जयशंकर प्रसाद ने आगाह किया था कि कोरी भौतिकता से मानवजाति का कल्याण नहीं हो सकता। आध्यात्मिकता और भौतिकता के समन्वय से ही व्यक्ति और राष्ट्र का उत्थान हो सकता है।

बाज़ारवाद में जहाँ महाजन जितना अमीर होता है, ग़रीब उतना ही ग़रीब। पूँजी का अपार भंडार श्रम और नैतिक बल के द्वाओरा अर्जित नहीं किया जा सकता। बाज़ार संस्कृति की स्थापना के सन्दर्भ में कतिपय तर्क दिये गये। ''पहला तर्क यह था कि गैर-बराबरी प्रकृति का नियम है। इस नियम में दखल नहीं दिया जाना चाहिए। कार्नेगी पन्थी विचारक बड़े जोश से घोषित कर रहे थे, 'महाजनों और ज़मीदारों के वैभव और समृद्धि वस्तुजगत की सहज योजना है। इससे छेड़छाड़ तबाही लाएगी।' दूसरा बड़ा तर्क हर्बर्ट स्पेंसर के विचारों पर आधारित था। इस विचारधारा के लिए ग़रीबी चिन्तनीय घटना नहीं थी बल्कि कुछ लोगों के पास अपार सम्पत्ति इकट्ठा होना प्रशंसनीय था और इसे भी प्राकृतिक नियम बताया गया।

भूमंडलीकरण और बाज़ार के कारण मानवीय संवेदना किस कदर सूख रही है, यह चित्रा मुद्गल के 'गिलिगडु' में कानपुर से सेवानिवृत्ति इंजीनियर बाबू जसवन्त सिंह के बेटे नरेन्द्र में देखी जा सकती है। अपना शौक और जवानी पुत्र के लिए स्वाहा कर देने वाले जसवन्त सिंह आत्मकेन्द्रित बच्चों को कोई दोष नहीं देना चाहते : ''माता-पिता की महत्त्वाकांक्षा, उपभोक्तावादी संस्कृति और कम्प्यूटर-जनित तकनीकी विकास में उलझी नयी पीढ़ी ने जब स्वयं अपनी छोटी-छोटी ज़िन्दगियों में कोई मानवीय स्पर्श महसूस नहीं किया, तो उसे बाँटेंगे कैसे?''

संजय खाती की एक कहानी 'बाहर कुछ नहीं था' में लेखक ने बाज़ारवाद को बढ़ावा देने के लिए आज जिस प्रकार एक वस्तु को ख़रीदने पर एक फ्री और फिर पत्र एवं मोबाइल के माध्यम से कांग्रच्यूलेशन आपको यह ऑफर दिया जाता है, जैसी बाजारू संस्कृति का बड़ा यथार्थ चित्रण किया है। लेखक टूथपेस्ट की बिक्री के सम्बन्ध में साक्षात्कार द्वारा खडक सिंह को प्रभावित कर लेता है तो उसे कम्पनी की तरफ़ से डिनर पार्टी का निमन्त्रण मिलात है, जिसमें वह अपने बॉस को भी ले जाता है। पार्टी में एक इंडियन ने दूसरे से पूछा, ''क्या इस इवेंट में कम्पनी एम्पलाई पार्ट ले सकते हैं।'' तो अँग्रेज ने कहा, ''नो प्रॉब्लम, 'हम इन्हें एज ए कंज्यूमर ट्रीट करेंगे। आफ्टर ऑल, असल बात है इनपुट, जो हमें इनसे मिला है। वैसे भी एम्पलाई से पहले कंज्यूमर होता है। एक कंज्यूमर के तौर पर ये हमारे लिए क़ीमती हैं। इसका मतलब नहीं कि वे किसके एम्पलाई हैं, हैं भी या नहीं।'' बाज़ारवाद के युग में ज्ञानी, चिन्तक, मनीषी, चरित्रवान, भले इंसान आदि का कोई महत्त्व नहीं है, यदि उससे कोई लाभ नहीं पहुँच रहा है।

उपरोक्त उद्धरण भाषा के वैश्वीकरण का भी सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत करता है। अब टूथपेस्ट, ब्रश, टी, कम्पनी, कम्प्यूटर, इंटरनेट, फोन, मोबाइल, टीवी, टिकट, शर्ट, पैंट, स्कर्ट, होटल, टॉवेल, बाथरूम आदि अनगिनत शब्दों का विश्व स्तर पर प्रयोग हो रहा है। हिन्दी की पत्र-पत्रिकाएँ हिंग्लिश का स्वरूप धारण करती जा रही हैं। भूमंडलीकरण के कारण हमारी जीवन संस्कृति में व्यापक परिवर्तन आ गया है। इंग्लैंड में एक सर्वे के अनुसार वहाँ की युवतियाँ वर्ष में 540 डालर अपने सौन्दर्य पर एवं 350 डालर भोजन एवं खान-पान पर खर्च करती हैं। इलेक्ट्रॉनिक मीडिया पर चैनलों की भरमार के कारण जीवन के हर क्षेत्र में भूमंडलीकरण और बाज़ारवाद को बढ़ावा मिल रहा है। इससे हमारे आचार-विचार की संस्कृति का विद्रूप उभर कर आ रहा है।

इस्मत चुगताई के 'मासूमा' उपन्यास में मासूमा उर्फ नीलोफ़र की माँ अपनी बेटी को अहमद भाई के हवाले कर उससे पैसा वसूल करती है और जब उसकी आर्थिक हालत ख़राब हो जाती है तो वह नीलोफ़र को फ़िल्म में काम करने के लिए प्रोड्यूसरों से सौदा करने लगती है : ''बेबी का जी अच्छा नहीं। और तब तक बेबी का जी अच्छा न होगा जब तक हज़ार पाँच सौ उनके ऊपर न चढ़ाए जाएँगे। चढ़ावा लेकर भी नखरे करेंगी।' नीलोफ़र की माँ घर-गृहस्थी चलाने के लिए अपनी बेटी के लिए दूसरा ग्राहक ढूँढ़ती है। बाज़ारवाद की संस्कृति इतनी हावी हो गयी है कि नारी की यौन शुचिता पर प्रश्नचिन्ह लग गया है। अब तो लिव इन रिलेशनशिप और महिला-मित्र के साथ विदेश यात्रा की एक नयी संस्कृति पनप रही है और मीडिया इसमें आग में घी का काम कर रहा है।

विगत 10-15 वर्षों में ममता कालिया के 'दौड़' उपन्यास के पवन की तरह पता नहीं कितने पवन अपनी स्टैला के साथ माता-पिता की मर्यादाओं और परम्परागत संस्कृति की धज्जियाँ उड़ाते हुए कामयाबी की मृगतृष्णा में भाग रहे हैं। पवन अपने पिता से कहता है, ''मैं ऐसे शहर में रहना चाहता हूँ जहाँ कल्चर हो न हो, कंज्यूमर कल्चर ज़रूर हो। मुझे संस्कृति नहीं उपभोक्ता संस्कृति चाहिए, तभी मैं कामयाब रहूँगा।'' आज की समस्या यह है कि नयी और पुरानी पीढ़ियों के बीच मुख्यत: मध्यवर्गीय परिवारों में संघर्ष मचा हुआ है : ''रेखा का सर्वांग सन्ताप से जल उठा। उसका अपना बेटा, अभी कल की इस छोकरी की तुलना अपनी माँ से कर रहा है और उन सब जानकारियों का दुरुपयोग कर रहा है जो घर का लड़का होने के नाते उनके पास है। मैंने तो ऐसी कोई लड़की नहीं देखी जो शादी से पहले ही पति के घर में रहने लगे।''

इक्कीसवीं सदी के हिन्दी उपन्यासों में ही नहीं, अपितु सम्पूर्ण भारतीय साहित्य में तथा संगोष्ठियों, बहसों, संवादों में भूमंडलीकरण, आर्थिक उदारीकरण और बाज़ारवाद की चर्चा ख़ूब जोरों से हो रही है। मेरे विचार से उससे जो कुछ छन कर आ रहा है, वह व्यक्ति, परिवार, समाज, राष्ट्र, पर्यावरण आदि के हित में नहीं है। दरअसल पारिवारिक भावात्मक आत्मीयता का अभाव, सन्त्रास और घुटन-टूटन के संकेत 20वीं सदी के उत्तरार्द्ध के हिन्दी साहित्य की विभिन्न विधाओं में आने लगे थे, आज जिसका व्यापक प्रभाव हमें दिखाई दे रहा है। भूमंडलीकरण के दौर में बाज़ारवाद एवं उपभोक्तावादी संस्कृति ने सम्पूर्ण मानवजाति को प्रभावित किया है। मनुष्य के लिए अब इससे बच कर निकलना शायद सम्भव नहीं होगा।

अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, गोवा विश्वविद्यालय, गोवा-403 206
मो.: 09403272305